शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : भानुभाई मूलजीभाई लाखाणी 卐

अगस्त : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ४

जगत से भिन्न.... जगत का ज्ञाता

जगत से भिन्न ऐसा यह जीव स्वयं अपनी ओर न देखकर बाह्य में जगत की ओर ही देखता है, इसलिये वह दु:खी होता है। जगत का ज्ञाता तो स्वयं है, यदि स्वयं अपनी ओर देखे तो दु:ख दूर होकर आत्मशांति का वेदन हो। इसलिये, जगत का मोह छोड़कर आत्मा की ओर देखने का उपदेश देते हुए 'नाटक-समयसार' में कहते हैं कि—

अे जगवासी यह जगत इन्हसों तोहि न काज।
तेरे घट में जग बसे तामें तेरो राज॥४५॥ *(बंध द्वार)*

हे भव्य! इन संसारी जीवों से या इस संसार से तेरा कोई संबंध नहीं है; तेरे ज्ञानघट में सारा जगत वास करता है, उसी में तेरा राज्य है। समस्त संसार ज्ञेयरूप से तेरे ज्ञान में झलक रहा है, इसलिये जगत का संबंध छोड़कर अपने ज्ञान के साथ संबंध जोड़, ज्ञान की सन्मुखता कर.... उसी में तेरी शोभ है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१९६]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

श्री नियमसारजी

(सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित)

महान आध्यात्मिक भगवत शास्त्र, संस्कृत टीका सहित, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्ण रूप से संशोधित, यह ग्रन्थ महान पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५ बड़े साइज में, कपड़े की सुन्दर मजबूत जिल्द मूल्य ५.००) मात्र, पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन २५) सैं० देंगे। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें।

मिलने का पता —

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

★

जैनदर्शन शिक्षणवर्ग

इस साल प्रौढ़ आयु के जैनभाईयों के लिये ता० १५-८-६१ से ता० ३-९-६१ तक जैनदर्शन शिक्षणवर्ग चलेगा। उसका लाभ लेने के इच्छुक जिज्ञासुओं को आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के दिगम्बर जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों के रहस्यमय प्रवचनों का भी लाभ मिलेगा। आनेवाले जिज्ञासुओं के ठहरने, जीमने की व्यवस्था संस्था की ओर से होगी। आने की भावना हो वे पहले से सूचित करें।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : भानुभाई मूलजीभाई लाखाणी

अगस्त : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ४

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का प्रवचन

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा—सात सौ मुनिवरों की रक्षा एवं वात्सल्य का महान दिवस; उस दिन पूज्य गुरुदेव ने समयसार की ४१३वीं गाथा पर प्रवचन किया था। ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा के पश्चात् श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को गुरुदेव का पहला प्रवचन सुनकर दो महीने के तृषातुर जिज्ञासु हर्षित हो उठे थे। वही प्रवचन यहाँ दिया जा रहा है। दो-दो महीने से तरसते हुए जिज्ञासुओं को गुरुदेव ने इस प्रवचन द्वारा धर्मरस का पान कराके तृप्त कर दिया है... प्रवचन में गुरुदेव का धर्म-वात्सल्य देखकर हृदय प्रमुदित हो उठता है। परम वात्सल्यपूर्वक गुरुदेव भव्य जीवों को धर्म में युक्त करते हैं कि—हे वत्स! शुद्ध आत्मस्वरूप को जानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता में ही तू अपने आत्मा को लगा। स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके उस मोक्षमार्ग में ही तू अपने आत्मा को स्थापित कर। रे चैतन्यप्रभु! तेरी प्रभुता तेरे चैतन्यधाम में ही है... उसमें अंतर्मुख हो... वहीं तेरे सर्व गुण हैं... और वहीं तेरा मोक्षमार्ग है... उससे बाहर कहीं तेरा मोक्षमार्ग नहीं है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप है; उसकी पर्याय में जो विकार या संयोग है, वह उसका मूल स्वरूप नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! ऐसे आत्मस्वरूप को जानकर, उसी की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता में अपने आत्मा को युक्त कर... स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके उस मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। अंतर में ऐसे आत्मस्वरूप को जाने बिना जो व्रतादि शुभ क्रियाओं को धर्म मानता है, उसे मोक्षमार्ग की खबर नहीं है; वह अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में नहीं लगाता किंतु व्यवहार में—राग में युक्त करता है, अर्थात् संसारमार्ग में लगाता है। वह अपने आत्मा का अनुभव नहीं करता,

इसलिये उसे धर्म या मुनिदशा नहीं होती।—यह बात आचार्यदेव समयसार की ४१३वीं गाथा में समझाते हैं—

पासंडी लिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं॥४१३॥

जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक श्रावक हूँ'—इसप्रकार द्रव्यलिंग में ममकार द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं अर्थात् व्रत-महाव्रत के विकल्प तथा देह की क्रियाओं में ममकार करके उन्हीं को मोक्षमार्ग मानते हैं तथा उन्हीं के कारण अपने को मुनि अथवा श्रावक मानते हैं, वे अनादिरूढ़ ऐसे व्यवहार में ही मूढ़ वर्तते हैं और प्रौढ़ विवेकशील निश्चय पर अनारूढ़ वर्तते हैं अर्थात् स्व-पर का भेदज्ञान करानेवाले निश्चयस्वरूप को वे नहीं जानते; ऐसे जीव परमार्थ सत्य ऐसे भगवान समयसार को नहीं देखते-नहीं जानते-अनुभव नहीं करते, इसलिये उन्हें मोक्षमार्ग नहीं होता। मोक्षमार्ग तो आत्मस्वभावाश्रित है, कहीं व्रतादि के विकल्पों के अथवा देह की दिगम्बरदशा के आश्रित मोक्षमार्ग नहीं है।

अहा आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई, एक विकल्प भी तुझे लाभरूप नहीं है। वह तुझे आश्रयरूप नहीं है। तेरा आश्रय अपने अनंत गुणों में है, उनमें अंतर्मुख हो... वहीं तेरा मोक्षमार्ग है; क्योंकि—

ज्यां चेतन त्यां सर्व गुण केवली बोले अेम,
—जिनवर बोले अेम,
प्रगट अनुभवो आतमा... निर्मल करो सप्रेम...
रे चैतन्य प्रभु!
—प्रभुता तमारी चैतन्यधाममां....

हे चैतन्यप्रभु! तेरी प्रभुता तेरे चैतन्यधाम में है; तेरा मोक्षमार्ग भी तेरे चैतन्यधाम में ही है। तेरा कोई गुण या मोक्षमार्ग कहीं बाहर किसी अन्य के आश्रित नहीं है। जहाँ चैतन्य है, वहीं उसके सर्व गुण हैं; चैतन्य के गुण चैतन्य में हैं, राग में विकल्प में या देह की क्रिया में चैतन्य के कोई गुण नहीं है। भाई, जहाँ तू नहीं है, वहाँ तेरे गुण कैसे होंगे? वहाँ अपने गुणों को न ढूँढ़। चैतन्य में अंतर्मुख होकर वहीं अपने गुणों को ढूँढ़। चैतन्य में ही तू है और तेरे सर्व गुण तुझमें ही हैं। ऐसा जानकर—

प्रगट अनुभवो आत्मा..... निर्मल करो सप्रेम।

अनंत गुणस्वरूप चैतन्यमूर्ति आत्मा का निर्मल प्रेम करके अर्थात् वीतरागी रुचि करके उसे प्रगटरूप से अनुभव में लो।

आज तो अकंपन आचार्य आदि ७०० मुनियों की रक्षा का महान दिवस है। विष्णुकुमार मुनि ने मोक्षमार्ग के प्रति परमवात्सल्य से ७०० मुनियों की रक्षा की थी। कैसे थे वे मुनि?—तो कहते हैं कि उपरोक्तानुसार आत्मानुभव करके अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की साधना करनेवाले। अरे, मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले मुनिवरों पर ऐसा उपसर्ग! उसे देखकर वात्सल्य के राग के कारण एक मुनिराज के मुँह से 'हा...!' ऐसा उद्‌गार निकल पड़ा... एक क्षुल्लक ने विष्णुकुमार मुनि से उस उपसर्ग की बात कही.... और साथ ही साथ यह भी कहा कि आपको विक्रियाऋद्धि प्रगट हुई है, इसलिये आप उन मुनिवरों की रक्षा करने में समर्थ हैं। श्री विष्णुकुमार मुनि को तो उस समय खबर भी नहीं थी कि उन्हें विक्रियाऋद्धि प्राप्त हो गई है! अहा, मुनिवर तो चैतन्य के आनन्द में लीन हैं... आनन्दधाम में पड़े हुए उन मुनिवरों को बाह्य ऋद्धि की दरकार ही कहाँ है? चैतन्य की अचिंत्य ऋद्धि के निकट बाह्य ऋद्धि की क्या महिमा! ऋद्धि प्रगट होने तथा ७०० मुनियों पर घोर उपसर्ग की बात सुनते ही विष्णुकुमार मुनि ने उंगली लम्बाकर ऋद्धि की परीक्षा की और फिर वात्सल्य की प्रधानता के कारण वामन (ठिंगने) ब्राह्मण का वेष धारण करके ७०० मुनियों की रक्षा की। आज उसी रक्षा का दिवस है।

देखो, विष्णुकुमार मुनि को मोक्षमार्ग साधक मुनिवरों के प्रति प्रमोद और वात्सल्य का भाव उत्पन्न हुआ और मुनियों की रक्षा हुई; उस अपेक्षा से उनकी प्रशंसा होगी; किंतु उसमें जो शुभराग हुआ, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है, वह राग प्रशंसनीय नहीं है। चैतन्य के आनन्दधाम में से बाहर निकलकर जो राग की वृत्ति उत्पन्न हुई, उसे अच्छा कैसे कहा जा सकता है? वे धर्मात्मा विष्णुकुमार स्वयं भी उस वृत्ति को शुभ या मोक्ष के साधनरूप नहीं मानते थे; इसलिये बाहर में उसका प्रायश्चित्त किया और उस वृत्ति को तोड़कर, स्वरूप में लीनता द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त हुए। उन्होंने स्वयं उस वृत्ति को तोड़कर केवलज्ञान प्राप्त किया; उसके बदले जो जीव विष्णुकुमार मुनि का उदाहरण देकर ऐसा कहते हैं कि—'ऐसा शुभराग, वह धर्म है, क्योंकि विष्णुकुमार मुनि को भी ऐसा शुभराग आया था, इसलिये वह धर्म है।'—ऐसा माननेवाले जीवों ने न तो विष्णुकुमार मुनि को जाना और न मोक्षमार्ग अथवा धर्म को पहिचाना। मोक्ष की साधना करते हुए बीच में राग की वृत्ति आ पड़ी, यह बात अलग है और उस वृत्ति को मोक्ष का मार्ग अथवा मोक्ष का साधन

मानना अलग बात है। जिसप्रकार मुनि को शरीर की दिगम्बरदशा ही होती है, किंतु वह दिगम्बर शरीर कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। उसीप्रकार बीच में शुभवृत्ति आये तो वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। जो जीव उसे मोक्षमार्ग मानता है, उसने आत्मा को नहीं जाना, निश्चय को नहीं जाना तथा उसे भेदज्ञान नहीं हुआ है। आचार्यदेव कहते हैं कि वह जीव अनादिकालीन रूढ़िगत ऐसे व्यवहार में ही मूढ़ है; अनादिकालीन रूढ़ि से बाहर निकलकर उसने कुछ नहीं किया।

अहा, मोक्षमार्ग तो शुद्ध आत्मा के ही आश्रित है; उसके बदले मूढ़ जीव, मोह के कारण राग में तथा शरीर की क्रिया में मोक्षमार्ग मानते हैं। सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि अरे जीवों! तुम्हारा स्वभाव एक समय में परिपूर्ण अपार गुणों से भरा हुआ है; जितने गुण हम में (सर्वज्ञ में) प्रगट हुए हैं, उतने सभी गुण तुम में भी विद्यमान हैं; उन्हें पहिचानो... उनका निर्मल प्रेम करो और उनमें स्थिर होओ... उसी में विश्राम है तथा उसी में मोक्षमार्ग। बीच में विकल्प आये, उसमें विश्राम नहीं है, वह शरणभूत नहीं है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से मोक्षमार्ग है—ऐसा हे जीवो! तुम जानो।

—ऐसे आत्माश्रित मोक्षमार्ग को जानकर आत्मा के ज्ञान-ध्यान में लीन ७०० मुनिवर जब एक साथ विचरते होंगे—वह काल कैसा होगा! ऐसे ७०० मुनियों के संघ पर जब बलि राजा ने उपसर्ग किया, तब वात्सल्य के कारण विष्णुकुमार मुनि को उनकी रक्षा का विकल्प आया... और युक्ति से मुनियों की रक्षा की। बलि राजा आदि ने क्षमा याचना की और जैनधर्म धारण किया। इसप्रकार आज मुनिरक्षा का महान दिवस है, इसलिये आज मंगल मुहूर्त के लिये यह प्रवचन किया।

❀ ❀ ❀

इस ४१३वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि मुनि को महाव्रत का विकल्प उठे, वह भी द्रव्यलिंग है और उस विकल्प में ममत्व करके उसे जो मोक्षमार्ग माने, वह जी मिथ्यादृष्टि है; मिथ्यादृष्टि को यहाँ व्यवहारमूढ़ कहा है। निश्चयनय प्रौढ़ विवेकवान है अर्थात् उससे परमार्थ वस्तुस्वरूप जानने पर स्व-पर का भेदज्ञान होता है और मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसलिये भगवान का और संतों का उपदेश है कि हे जीवों! निश्चयनय अनुसार आत्मा के परमार्थस्वरूप को जानकर उसमें आरूढ़ होओ... और अनादि के रूढ़ ऐसे व्यवहार में मूढ़ता छोड़ो। विकल्प तो द्रव्यलिंग है; उसमें ममत्व करे, उससे लाभ माने, वह अनादि संसार में जहाँ था वहीं का वहीं खड़ा है.... वह

संसारमार्ग से निकलकर मोक्षमार्ग में नहीं आया है। चेतन के गुण चेतन में ही हैं, चेतन के गुण विकार में नहीं है; क्योंकि—

ज्यां चेतन त्यां सर्व गुण,
केवली भाखे अेम;
प्रकट अनुभव आपणो,
निर्मल करो सप्रेम.... रे चैतन्यप्रभु!
प्रभुता तमारी चैतन्यधाममां....

हे जीवो! तुम्हारे चैतन्य में ही तुम्हारी प्रभुता है; उसकी प्रीति करके अनुभव करना ही कर्तव्य है। राग तो तुच्छ है, उसमें तुम्हारा बड़प्पन, तुम्हारी महत्ता, तुम्हारी प्रभुता नहीं है; तुम्हारा सुख-शांति-आनन्द तो तुम्हारे चैतन्य में ही है। अहा! ऐसा चैतन्यधाम ही सच्चा विश्रामस्थल है। शरीर में या राग में कहीं विश्राम नहीं है, उनमें चैतन्य के कोई गुण नहीं हैं; इसलिये अंतर्मुख होकर चैतन्यधाम में दृष्टि करो, उसकी निर्मल प्रीति करो तथा उसका अनुभव करो... अपने चैत्न्य की प्रभुता अपने अनुभव में लो।

जिसे पैसे की रुचि हो, उसकी दृष्टि कहाँ होती है ?—कि जहाँ से पैसा मिलता हो, वहाँ उसकी दृष्टि और प्रीति होती है; उसीप्रकार जिसे धर्म की रुचि हो, उसकी दृष्टि कहाँ होती है ?—कि जहाँ से धर्म की प्राप्ति होती हो वहाँ; धर्म प्राप्त होने का स्थान कौन सा है ? धर्म का धाम आत्मा है, उस पर धर्मी की दृष्टि होती है और उसी का प्रेम होता है; राग के विकल्प का प्रेम धर्मात्मा को नहीं होता। जिसे राग का प्रेम है, उसे धर्म का प्रेम नहीं है। राग का प्रेम कहो या व्यवहारमूढ़ता कहो। शुद्ध आत्मा कारणपरमात्मा है, उसे कारणसमयसार भी कहा जाता है; और उसके आश्रय से मोक्ष के कारणरूप जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, उस रत्नत्रय परिणत आत्मा को भी कारणसमयसार कहा जाता है। जो जीव निश्चयस्वभाव को नहीं जानता और व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानता है, वह भले ही द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु होकर पंचमहाव्रतादि का पालन करता हो, तथापि उसने अभी कारणसमयसार को नहीं जाना है; उसे मोक्षमार्ग की खबर नहीं है। और जहाँ कारणसमयसार की खबर नहीं है, वहाँ कार्यसमयसार की प्राप्ति कहाँ से होगी ? जहाँ मोक्षमार्ग की ही खबर नहीं, वहाँ मोक्ष की प्राप्ति कहाँ से होगी ?

सात सौ मुनियों की रक्षा हुई, उस दृष्टि से वात्सल्य के विकल्प की प्रशंसा की; किंतु विष्णुकुमार को मुनिदशा से उतरकर जो राग हुआ, वह कहीं प्रशंसनीय नहीं है। विष्णुकुमार स्वयं तो राग को प्रशंसनीय नहीं मानते थे, इसलिये बाद में प्रायश्चित्त करके पुनः मुनि हुए और विकल्प तोड़कर, स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो गये। वात्सल्य के विकल्प द्वारा नहीं, किंतु विकल्प को छेदकर स्वरूप में स्थिर होकर वे परमात्मा हुए हैं। यही मोक्ष का उपाय है, अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है।

कारणसमयसार अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित आत्मा; उसके बिना कार्यसमयसार की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष का कारण त्रिकाली चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है; उसके अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प के आश्रय से या देह की क्रिया के आश्रय से मोक्ष का कारण प्रगट नहीं होता। भगवान ने ऐसा (शुद्धात्मा के आश्रयरूप) मोक्षमार्ग साधा और वही मार्ग जगत को दिखलाया। हे जीवो! मोक्षमार्ग यही है, अन्य नहीं। जिसप्रकार भगवान का आत्मा और यह आत्मा स्वभाव से समान है, उसीप्रकार मोक्ष का उपाय भी दोनों के लिये समान ही है।

अरूप ऐसा आतम तन में करे निवास।
वही शुद्ध परमात्मा, अन्य भेद नहिं खास॥

इस जड़ शरीर के भीतर अरूपी चैतन्यमूर्ति आत्मा शुद्ध परमात्मा समान विराजमान है; सिद्ध परमात्मा में और इस जीव में परमार्थतः कोई भेद नहीं है, मुख्यतः कोई भेद नहीं है। पर्याय में जो भेद है, वह गौण है अर्थात् मुख्य—विशेष नहीं है। भाई! अंतर्स्वभाव से देख, तुझमें और सिद्ध परमात्मा में किंचित् भेद नहीं है। सिद्ध भगवान जैसा ही आत्मा इस शरीर में निवास कर रहा है, किंतु वह शरीर से बिल्कुल भिन्न है। जड़ शरीर के अवयव आत्मा के नहीं हैं। हाथ-पैर-आँख-कान आदि तो जड़ शरीर के अवयव हैं, वे कहीं आत्मा के अवयव नहीं हैं और आत्मा उन अवयवों से काम नहीं लेता। आत्मा के अवयव तो ज्ञान, श्रद्धा, आनन्दादि हैं और उनका उपभोग आत्मा करता है। असंख्य प्रदेश तथा ज्ञानादि अनंत गुणोंरूप जो अवयव, उनका अवयवी आत्मा है। हाथ-पैर आदि जड़ अवयवों का अवयवी आत्मा नहीं है। अरूपी आत्मा के अवयव रूपी कैसे होंगे?—नहीं हो सकते। अवयव और अवयवी एक ही प्रकार के होते हैं। अरे, विकल्प भी

वास्तव में चैतन्यमूर्ति आत्मा का अवयव नहीं है। जो जिसका सच्चा अवयव हो, वह उससे पृथक् कैसे होगा ? विकार तो आत्मा से पृथक् हो जाता है, और विकार पृथक् हो जाने पर भी आत्मा तो अखण्ड रहता है, उसका कोई अंग खंडित नहीं हो जाता; इसलिये विकार आत्मा का सच्चा अंग नहीं है। यदि विकार, आत्मा का अंग हो तो उसका नाश होने पर आत्मा को अपंगता (अपूर्णता) हो जाना चाहिये—किंतु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि विकार, वह आत्मा के स्वभाव का अंग नहीं है, वह तो छठवीं उँगली के समान उपाधिरूप है।

जो अपने ज्ञानादि अंगों को नहीं जानता और विकल्प या इंद्रियादि पर के आश्रय से लाभ लेना चाहता है, वह वास्तव में अपने को अपंग-दुर्बल मानता है। लकड़ी आदि का आश्रय कौन लेता है ?—कि जिसके अंग दुर्बल होते हैं; उसीप्रकार मोक्षमार्ग के लिये पर का आश्रय कौन मानेगा ?—कि जो अपने आत्मा को शक्तिहीन मानता हो। अपने आत्मा को दुर्बल माने और पर के आश्रय से मोक्ष की साधना करना चाहे तो कभी नहीं हो सकती। चैतन्य भगवान अनंत गुणों से परिपूर्ण है, उसी के आश्रय से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है।

जो चिदानन्दस्वरूप आत्मा को नहीं जानते और बाह्य में राग या शरीर की क्रिया में अपनत्व मानकर उसमें मिथ्या अहंभाव करते हैं अथवा उसे मोक्ष का साधन मानते हैं (—और जिसे अपने मोक्ष का साधन मानेंगे, उसमें ममत्व किये बिना रहेंगे नहीं; इसलिये शरीरादि की क्रिया को या राग को मोक्ष का साधन माननेवाले उसमें ममत्व करते ही हैं) वे मोक्षमार्ग से बाहर, व्यवहार में विमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे भाई ! तेरी प्रगट दशा का विलास तेरे गुण में से आयेगा या बाहर से ? क्या शरीर के अवयवों में से तेरी निर्मलदशा प्रगट होगी ? शरीर तो जड़ है, वह तो राख हो जायेगा; उसमें से तेरी निर्मलदशा प्रगट नहीं होगी; तो क्या राग में से तेरी निर्मलदशा आयेगी ?—नहीं; राग तो आकुलता है, दोष है, वह तो नवागंतुक भाव है, वह कहीं स्वभाव के घर का भाव नहीं है; उसमें से स्वभावदशा प्रगट नहीं होगी। प्रभु ! तेरी प्रगट दशा चैतन्य में से ही उल्लसित तथा विलसित हो, ऐसा तू है। तेरे चैतन्य में ही ऐसी अचिंत्य शक्ति है कि उसे किसी का आश्रय नहीं लेना पड़ता। उसके बदले तू राग में से या शरीर में से अपनी चैतन्यदशा उल्लसित या विलसित करना चाहे, तो वह तेरा मिथ्या भ्रम है।

देखो, यह शरीर या इन्द्रियाँ कोई भी आत्मा को साधनरूप नहीं हैं; वे आत्मा से अत्यंत

भिन्न हैं; इसलिये आत्मा हाथ-पैर हिला सके या उन्हें अपने सुख का साधन बना सके—ऐसा नहीं होता। हाथ-पैर आदि न हों तो जीव दु:खी है, और हाथ-पैर सुख के साधन हैं—ऐसा नहीं है। जैसे कि—

❀ सिद्ध भगवान के हाथ-पैर आदि अवयव नहीं हैं, तो क्या उनके न होने से वे दु:खी हैं ?—नहीं; क्योंकि हाथ-पैर आदि अवयव कहीं आत्मा के नहीं हैं, और न वे आत्मा के लिये सुख के साधन हैं—कि उनके अभाव में आत्मा दु:खी हो जायो। सिद्ध भगवंत हाथ-पैर के बिना ही स्वयमेव सुखी हैं।

❀ निगोद के जीवों को हाथ-पैर-आँख आदि अवयव नहीं हैं। जिसप्रकार सिद्ध भगवंतों के हाथ-पैर आदि अवयवों का न होना उनके दु:ख का कारण नहीं है, उसीप्रकार वह निगोदिया जीवों के भी दु:ख का कारण नहीं है; उनका मोह ही उनके दु:ख का कारण है।

किसी के हाथ-पैर आदि अवयव किसी रोगादि के कारण गल गये हों या कट गये हों, तो क्या उन अवयवों का कट जाना उसके लिये दु:ख का कारण है ?—और वे अवयव होते तो क्या उन्हें साधन बनाकर वह सुखी हो जाता ?—नहीं, वे जड़ अवयव आत्मा के साधन थे ही नहीं। उन अवयवों का संयोग हो या न हो, दोनों स्थितियों में वह आत्मा के सुख का साधन हैं ही नहीं।

❀ इन्द्रादि देव या मनुष्य, जिनके हाथ-पैर आदि अवयव बिल्कुल व्यवस्थित हैं, उन्हें क्या वे अवयव सुख के साधन होते हैं ?—नहीं; अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है कि यह मेरे अवयव हैं और मैं उनका उपयोग करके सुख का साधन बना लूँ; किंतु वे हाथ-पैर आँख आदि अवयव तो अजीव हैं, वे कहीं आत्मा के अंग नहीं हैं और न वे अजीव अंग आत्मा के सुख के साधन हैं। सम्यक्त्वी धर्मात्मा जानता है कि यह अवयव तो जड़ की रचना है, वह मेरा साधन नहीं है। इसप्रकार वास्तव में धर्मी की श्रद्धा में देहादि से संन्यास ही हो गया है, क्योंकि उसकी दृष्टि में से देह का स्वामित्व उड़ गया है।

इसप्रकार निगोद से लेकर सिद्ध तक के समस्त जीव शरीर तथा शरीर के अवयवों से अत्यन्त भिन्न, ज्ञानानन्दस्वरूपी हैं।

और शरीर के अवयवों की भाँति रागादि भाव भी वास्तव में आत्मा के अवयव नहीं हैं, वे आत्मा को मोक्ष का या धर्म का किंचित् साधन नहीं हैं; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो कि आत्मा के ही अंगभूत अवयव हैं, वे ही आत्मा को मोक्ष का—सुख का साधन हैं; किंतु उन्हें प्राप्त न करनेवाले

मूढ़ अज्ञानी जीव, राग को ही धर्म का साधन मानते हैं। चैतन्य की ओर दृष्टि किये बिना, राग को ही (व्यवहाररत्नत्रय आदि शुभभाव को ही) साधन मानकर अज्ञानी अनादि से जो राग कर रहा है, वह तो अनादिरूढ़ व्यवहार है और अज्ञानी मूढ़ता वश उसी में मूर्च्छित हो रहा है; इसलिये व्यवहारमूढ़ होकर मोक्षमार्ग से दूर वर्त रहा है। जड़-चेतन और स्वभाव-विभाव का भेदज्ञान कराके मोक्षमार्ग की सिद्धि करनेवाला जो निश्चयनय, उसे तो वह अज्ञानी जानता भी नहीं है। जड़ और चेतन का संयोग तथा उसके लक्ष से होनेवाला विकार तो अनादि से चला आ रहा है, उसमें कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चय स्वभाव के भानपूर्वक मोक्षमार्ग प्रगट किये बिना अनादि के रूढ़ व्यवहार को उपचार से भी मोक्षमार्ग नहीं कहा जाता। चैतन्य ज्ञाताप्रभु है, उसकी प्रतीति के बिना तो व्यवहार मोक्षमार्ग भी नहीं होता। अकेले रागरूप व्यवहार तो अज्ञानी को अनादि से रूढ़िगत चला आ रहा है, उसमें जो ममत्व करता है (-उसे किंचित्मात्र मोक्ष का साधन मानता है), वह तो व्यवहार मूढ़ है। जिसे निश्चय स्वभाव की खबर नहीं है और व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में ही मोक्षमार्ग मानकर जो अटक रहा है, वह भी व्यवहार मूढ़ है। धर्मात्मा ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से मोक्षमार्ग जानते हुए 'कारणसमयसार' को (शुद्ध रत्नत्रयरूप से परिणमित आत्मा को) प्राप्त करते हैं और वे व्यवहार में मूर्च्छित नहीं होते, उसे मोक्षमार्ग मानकर उसमें नहीं अटकते।

भाई! विकल्प में कहीं परम आनन्द या शांति नहीं है; उस विकल्प के पीछे जो चैतन्यतत्त्व है, वह परम आनन्द एवं शांति का धाम है... उस चैतन्य की ओर उन्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता ही मोक्षमार्ग है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

भगवान! तू तो 'स...म...य...सा...र' है। सर्व पदार्थों में सारभूत ऐसा उत्तम पदार्थ शुद्ध आत्मा तू ही है.... ज्ञान और आनन्दरूप से तेरा आत्मा ही परिणमित होता है; कोई अन्य तेरे ज्ञान या आनन्दरूप से परिणमित नहीं होता। किसी विकल्प में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित हो।

ज्ञानानन्दस्वभाव का भान होने के पश्चात् धर्मात्मा को साधकदशा में व्यवहार होता है; किंतु उन्हें निश्चय की प्रतीति होने से 'व्यवहारमूढ़ता' नहीं होती; और अज्ञानी को निश्चय की खबर न होने से व्यवहारमूढ़ता होती है। इसप्रकार आत्मा के मोक्षमार्ग की भूमिका में ज्ञानी को जो व्यवहार हो, वह अलग है, और अज्ञानी को जो व्यवहार हो, वह अलग है। ज्ञानी का जो व्यवहार है, वह कहीं अनादिरूढ़ नहीं है और ज्ञानी उसमें मूढ़ नहीं है। अज्ञानी का निश्चयरहित व्यवहार तो

अनादिरूढ़ है, और वह रागादि व्यवहार को ही मोक्ष का साधन मानकर उसमें मूढ़ होकर वर्तता है। आचार्यदेव कहते हैं कि जो अनादिरूढ़ व्यवहार में ही विमूढ़ हैं और प्रौढ़ विवेकवान-भेदज्ञान करनेवाले—निश्चय में जो आरूढ़ नहीं हैं, वे परमार्थ स्वरूप भगवान समयसार को नहीं जानते, नहीं देखते और अनुभव नहीं करते, अर्थात् वे मोक्षमार्ग में नहीं आये हैं।

निश्चय अर्थात् सत्यार्थ आत्मस्वरूप, उसे जानने से ही अपूर्व भेदज्ञान और मोक्षमार्ग प्रगट होता है। परंतु जिससे भेदज्ञान होता है, ऐसे निश्चय को तो वे जानते नहीं हैं और रागादि में एकत्वबुद्धि से अनादिकालीन व्यवहार में ही मूढ़ वर्तते हैं, वे मोक्षमार्ग में नहीं आये हैं किंतु अभी (व्यवहाररत्नत्रय का पालन करते हों तथापि) संसारमार्ग में ही खड़े हैं, उन्हें संसारत्व ही जानना। जो निश्चय को अर्थात् शुद्ध परमार्थस्वरूप को जानते हैं, वे ही समयसार को अर्थात् शुद्ध आत्मा को जानते-देखते-अनुभव करते हुए मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं। वे मोक्षमार्गी हैं, धर्मात्मा हैं।

विकल्प, वह चैतन्यधाम की मूलवस्तु नहीं है; चैतन्यधाम कहीं विकल्प की उत्पत्ति का स्थान नहीं है किंतु आनन्द की उत्पत्ति का स्थान है। विकल्प का उत्थान चैतन्यधाम के आश्रय से नहीं होता; वह चैतन्य की वस्तु नहीं है, चैतन्य का अंग नहीं है, और उसके द्वारा चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। विकल्प को पकड़ रखनेवाला चैतन्यतत्त्व को नहीं पकड़ सकता; चैतन्यतत्त्व को पकड़ने का साधन तो निर्विकल्प ऐसा शुद्धनय है, वही चैतन्य का अंग है। प्रौढ़ विवेकवान निश्चय द्वारा भेदज्ञान करके, चैतन्य और विकल्प को पृथक् कर देना चाहिये। फिर चैतन्य में एकाग्रता और विकल्प से विमुखता-वह मोक्षमार्ग का उपाय है।

इन्द्र के वैभव का उपयोग स्वयं इन्द्र नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो आत्मा से बाहर की वस्तु है। संसार का कोई जीव आत्मा के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं का उपयोग नहीं कर सकता। इन्द्र को बाह्य वैभव अधिक होने से वह सुखी है और नारकी को वैभव नहीं है, इसलिये वह दुःखी है—ऐसा नहीं है। दोनों में से किसी भी आत्मा को वे बाह्य वस्तुएँ सुख-दुःख का साधन नहीं हैं। तदुपरांत यहाँ तो कहते हैं कि जो विकल्प है, वह भी आत्मा के चिदानन्दस्वभाव से बाहर की वस्तु है और बाह्यवस्तु अंतरंग चैतन्यसुख का साधन नहीं हो सकती।

भाई, तेरे सुख का साधन तो तेरे चैतन्य में है। तेरे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ तेरे चैतन्य में से ही होता है, बाह्य से या राग से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता। आत्मा के मोक्षमार्ग का साधन बाह्य में नहीं है और राग में भी नहीं हैं; द्रव्यलिंग में अर्थात् व्रत-महाव्रत के विकल्पों में भी मोक्षमार्ग का साधन नहीं है। मोक्षमार्ग का साधन एक ही है कि शुद्धनय द्वारा परमार्थ चैतन्यस्वरूप को

जानना। इस चिदानन्दी चैतन्यतत्त्व को जाने बिना किंचित् भी सुख-शांति-स्वतंत्रता धर्म या मोक्ष का साधन नहीं होता। भगवान समयसार का दर्शन-ज्ञान और अनुभवन तो निश्चय पर आरूढ़ होने से ही होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी साधन से भगवान समयसार का दर्शन-ज्ञान या अनुभव नहीं होता; इसलिये—

मोक्षार्थी जीवों को अंतर में शुद्धनय के अत्यंत अभ्यास द्वारा भगवान समयसार शुद्ध आत्मा को जानना-देखना और श्रद्धा करना चाहिये। ऐसा करने से मोक्ष के उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ

जिसे पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति न हो, उस ही को अल्प विकास के कारण अटक जाना पड़ता है। जिसे पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो, उसे पूर्णता की ही भावना होने से बीच में कहीं रुकना नहीं पड़ता।

ज्ञानी का प्रारम्भ पूर्णता के लक्ष से है; इसलिये वे बीच में अल्पता में नहीं रुकते। अज्ञानी को पूर्णता का लक्ष ही नहीं होने से उसे वास्तविक प्रारम्भ भी नहीं होता, वह कहीं न कहीं अल्पता में संतुष्ट होकर अटक जाता है, इसलिये पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ ही सच्चा प्रारम्भ है।

—सर्व मनोरथों की सिद्धि का उपाय

हे जीव! अपने चिदानंदस्वभाव की शरण लेने से सर्व मनोरथों की सिद्धि हो जायेगी। कौन-से मनोरथ?—तो कहते हैं कि मोक्ष के। मुमुक्षु को मोक्ष के अतिरिक्त अन्य काहे के मनोरथ होंगे?

आत्मसाधना के लिये मोक्षार्थी को क्या करना चाहिये ?

(वीर संवत् २४८५, वैशाख शुक्ला पंचमी)

दक्षिण के तीर्थधामों की उमंग भरी यात्रा करके लौटते समय पूज्य गुरुदेव देहगाम पधारे... उस समय देहगाम के जैनसमाज ने गुरुदेव का उल्लासपूर्ण स्वागत किया और प्रवचन का लाभ लिया। उस प्रवचन का सारांश यहाँ दिया गया है। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में आत्मस्वरूप को समझने की प्रेरणा झलक रही है.... आत्मस्वरूप की साधना किसप्रकार करना चाहिये—यह बात आचार्य भगवंतों ने समयसार गाथा १७-१८ में अत्यंत सरल ढंग से समझाई है—उसी पर किया गया यह प्रवचन है। आत्मार्थरस से छलकता हुआ यह प्रवचन प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य आनन्दित करेगा।

शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व क्या वस्तु है, उसे जाने बिना जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है; वह परिभ्रमण कैसे दूर हो ?—उसकी यह बात है। आचार्यदेव कहते हैं कि—दूसरी चिंताओं से तो बस हो, परंतु आत्मा में भेद के विकल्पोंरूप चिंता से भी साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होता। साध्य आत्मा की सिद्धि तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही होती है, अन्य रीति से नहीं होती। इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा शुद्ध आत्मा का सेवन (आराधन, अनुभवन) ही मोक्षार्थी जीव का प्रयोजन है। मोक्षार्थी को अपना ऐसा प्रयोजन सिद्ध करने के लिये क्या करना चाहिये—यह बात आचार्यदेव दृष्टान्त देकर समझाते हैं:—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणां जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण॥१७॥
एवं हि जीयराणा णा दव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्ख कामेण॥१८॥

(समयसार, गाथा १७-१८)

जिसप्रकार धन का अर्थी पुरुष, धन के लिये राजा की सेवा करता है; उसीप्रकार मोक्षार्थी

जीव को मोक्ष के लिये चैतन्य-राजा का सेवन करना चाहिये।—किसप्रकार सेवन करना चाहिये ?—यह बतलाते हैं:—

निश्चय से जिसप्रकार धन का अर्थी पुरुष बहु उद्यम से प्रथम तो राजा को जानता है कि 'यह राजा है'..... उसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को प्रथम तो बहु उद्यम से आत्मा को जानना चाहिये कि 'यह जो चैतन्यरूप से अनुभव में आता है, वही मैं हूँ;' फिर, जिसप्रकार वह पुरुष राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है कि अवश्य यह राजा ही है और **इसके सेवन से मुझे अवश्य धन की प्राप्ति होगी.... उसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को भी चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये कि ऐसा चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ... उसी का सेवन करने से परम आनन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी। ऐसे ज्ञान-श्रद्धान करके फिर, जिसप्रकार वह पुरुष, राजा का सर्वप्रकार से अनुसरण करके—उसकी सेवा करके प्रसन्न करता है, उसीप्रकार मोक्षार्थी जीव को सर्वप्रकार के उद्यमपूर्वक चैतन्यस्वभाव का ही अनुचरण करना चाहिये अर्थात् उसी के अनुभव में लीन होना चाहिये। ऐसा करने से साध्य आत्मा की सिद्धि होती है—अन्य प्रकार से नहीं होती।**

शरीर से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वतंत्र वस्तु है; वह आत्मा कभी नवीन उत्पन्न हुआ नहीं है और न कभी उसका नाश होता है; अपने ज्ञानस्वरूप से वह त्रिकाल स्थित रहता है। अभी तक उसने क्या किया ? तो कहते हैं कि अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर चौरासी लाख योनियों में अनंत अवतार किये, स्वर्ग में भी अनंत बार गया और नरक में भी अनंत बार गया; तिर्यंच भी अनंत बार हुआ और मनुष्य भी अनंत बार हुआ। चैतन्य से च्युत होकर चारों गतियों में परिभ्रमण किया। 'मैं ही स्वयं सच्चिदानंदस्वरूप हूँ'—इसप्रकार निजतत्त्व की प्रतीति करके उसमें स्थिर हो तो चार गति का परिभ्रमण दूर हो जाये।

भाई ! तेरा सुख भी पर में नहीं है और तेरा दु:ख भी पर में नहीं है; तेरा मोक्ष और संसार दोनों तुझ में ही हैं 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता'—चैतन्यस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट हो, वही मोक्ष है; और राग-द्वेष-मोहरूप जो अशुद्धता है, वही संसार है। जीव का संसार अन्य पदार्थों में नहीं है, तथा जीव का मोक्षमार्ग भी अन्य पदार्थों में नहीं है। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया...' अंतर में चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करके उसकी सेवा—आराधना—करना ही चार गति की हैरानी से छूटने का उपाय है।

इस चैतन्यमूर्ति आत्मा को जन्म धारण करना पड़े—शरीर धारण करना पड़े, वह लज्जा है। उस लज्जाजनक जन्मों को दूर करने की यह बात है।

'अशुचि देह से भिन्न निज, देखे जो अशरीर;
शरम जनक जन्मो टले, पिये न जननी क्षीर॥'

(योगसार दोहा)

प्रथम तो अंतर में आत्मा की अभिलाषा जागृत होना चाहिये कि—अरे, मैं चैतन्यमूर्ति सिद्धभगवान जैसा आत्मा; मेरा आनन्द मुझमें है, और मुझे ऐसे अवतार धारण करना पड़े!—यह तो लज्जा की बात है। मेरे चैतन्यनिधान मुझमें भरे पड़े हैं, उन्हें प्रगट करके मुझे लज्जाजनक जन्मों का अंत करना है।—इसप्रकार जिसके अंतर में आत्मा की सच्ची जिज्ञासा जागृत हो, वह जीव प्रयत्नपूर्वक सर्व उद्यम से अपने आत्मा को जानता है, उसकी श्रद्धा करता है और उसी का अनुसरण करता है। भाई! ऐसे आत्मा के अनुभव बिना अन्य सब कुछ तूने अनंत बार किया है—

'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

आत्मा के ज्ञान बिना त्यागी होकर तूने अनंत बार मुनिव्रतों का पालन किया और सोलहवें स्वर्ग से ऊपर नववें ग्रैवेयक तक अनंत बार गया, किंतु उससे क्या मिला? आत्मसुख की तो किंचित् प्राप्ति नहीं हुई। यदि उन व्रतादि के शुभराग से तू अपना कल्याण मानता हो तो वह तेरा भ्रम है... तू स्वयं ही विपरीत मान्यता से अपने आत्मा को ठग रहा है। संत अपने आत्मानुभव की बात करके तुझे समझाते हैं कि अरे जीव! तू तो चैतन्य है, तेरा अनुभव तो चैतन्यरूप है, तेरा स्वाद तो चैतन्यमय है। 'चैतन्य-स्वादरूप से जो अनुभव में आये, वही मैं हूँ'—इसप्रकार स्व-संवेदनपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान कर, और फिर उसमें स्थिर हो... यही मुक्ति का उपाय है।

मोक्षार्थी जीव को मोक्ष की साधना के लिये क्या करना चाहिये? यह बात आचार्यदेव ने इस गाथा में राजा का उदाहरण देकर बड़े अच्छे ढंग से समझाई है। जो पुरुष, राजा से अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है, वह राजा को प्रसन्न करने में किसी प्रकार का विलम्ब नहीं करता... सीधा राजा के निकट पहुँचता है और उसे सर्व प्रकार से प्रसन्न करके समृद्धि प्राप्त करता है... इसप्रकार राजा की समीपता उस पुरुष के लिये सुख-समृद्धि का कारण है; किंतु राजा को प्रसन्न करने की रीति जानना आवश्यक है। उसीप्रकार जिसे चैतन्यराजा से अपना हितरूप प्रयोजन सिद्ध

करना है, वह मोक्षार्थी जीव, जगत की अनुकूलता या प्रतिकूलता की ओर न देखकर सीधा चैतन्य राजा का सान्निध्य करता है और सर्वप्रकार से उसकी सेवा-आराधना में लग जाता है... अन्यत्र कहीं रुके बिना सर्व प्रकार के प्रयत्न से चैतन्य राजा को प्रसन्न करके वह जीव मोक्षमार्ग प्राप्त कर लेता है। इसप्रकार चैतन्य राजा का सान्निध्य उस जीव के लिये मोक्षसुख का कारण है, किंतु उसके लिये चैतन्यराजा को प्रसन्न करने की रीति जानना आवश्यक है।

जिसे चैतन्य को साधने का उत्साह है, उसे चैतन्य के साधक धर्मात्मा को देखते ही उत्साह एवं उमंग उठती है कि—अहा! यह धर्मात्मा चैतन्य की साधना कर रहे हैं! इसप्रकार उसे प्रमोद आता है और मैं भी चैतन्य को साधूँ—ऐसा उत्साह जागृत होता है। चैतन्य की साधना में हेतुभूत ऐसे संत-गुरुओं को भी वह आत्मार्थी जीव सर्वप्रकार की सेवा करते हैं और संत-गुरु भी प्रसन्न होकर उसे आत्म प्राप्ति कराते हैं। मोक्षार्थी जीव के अंतर में एक पुरुषार्थ का ही मंथन रहता है कि—मैं किसप्रकार अपने आत्मा को साधूँ?—किसप्रकार अपने आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को प्रगट करूँ? आत्मा में सतत ऐसी धुन लगी होने के कारण जहाँ संत-गुरु ने उसे श्रद्धा-ज्ञानादि का उपाय बतलाया कि तुरंत वह उसके आत्मा में परिणमित हो जाता है। जिसप्रकार धन का अर्थी पुरुष राजा को देखते ही प्रसन्न हो उठता है और उसे विश्वास आ जाता है कि अब मुझे धन की प्राप्ति होगी तथा दरिद्रता दूर हो जायेगी; उसीप्रकार आत्मसम्पदा का अर्थी मुमुक्षु जीव आत्म-प्राप्ति का उपाय दर्शानेवाले संतों को देखते ही प्रसन्न हो उठता है... उसका आत्मा उल्लसित हो उठता है कि—अहा, मुझे अपने आत्मा की प्राप्ति करानेवाले संत मिल गये.... अब मेरे सांसारिक दुःख दूर हो जायेंगे और मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी। ऐसा उल्लास एवं विश्वास लाकर फिर जिसप्रकार संत-धर्मात्मा चैतन्य की साधना का मार्ग बतलाते हैं, तदनुसार समझकर स्वयं सर्व उद्यम से चैतन्य को अवश्य साधता है।

देखो, यह किसकी बात है?—जो आत्मार्थी हो, उसकी बात है। देवपद अर्थी नहीं, राजपद का अर्थी नहीं, हीरे-जवाहिरात का अर्थी नहीं, मान-सम्मान का अर्थी नहीं, राग का अर्थी नहीं, किंतु आत्मा का ही अर्थी, आत्मा की मुक्ति कैसे हो, उसी का अर्थी.... ऐसे जीव की यह बात है। भाई, पहले तू सच्चा आत्मार्थी बन! शरीर का-राग का-मान का अथवा संसार की अन्य किसी वस्तु का मुझे प्रयोजन नहीं है, मुझे तो एक अपने आत्मा का ही प्रयोजन है। मैं किसप्रकार अपने आत्मानन्द का अनुभव करूँ.... ऐसी सच्ची जिज्ञासा प्रगट करके जो जीव आत्मार्थी हुआ,

उसे आत्मा का अनुभव होता ही है... उनका उद्यम आत्मोन्मुख हो ही जाता है। किंतु जिसके हृदय में आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई भी शल्य हो, वह जीव कहीं न कहीं (शरीर में, राग में, पुण्य में, मान-सम्मान में, और कुछ नहीं तो फिर शास्त्रों की जानकारी में) अटक जाता है; इसलिये आत्मसाधना का उद्यम वह नहीं कर सकता। जो जीव आत्मा का अर्थी हो, वह आत्मपुरुषों का समागम करके बारम्बार परिचयपूर्वक उसके पास से आत्मा का स्वरूप जानकर उसका निर्णय करता है... अंतर अनुभवपूर्वक उसकी श्रद्धा करता है... यही आत्मार्थ साधने की अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट करने की रीति है।

आत्मा का ऐसा ज्ञान-श्रद्धान कौन कर सकता है ? आचार्य भगवान कहते हैं कि-सभी कर सकते हैं; आबालवृद्ध सब कर सकते हैं; जो भी आत्मार्थी बनकर करना चाहें, वे सब कर सकते हैं। एक शर्त है कि वह जीव आत्मा का ही अर्थी होना चाहिये—अन्य किसी का नहीं। आत्मा का अर्थी होकर जो साधना चाहे, वह अवश्य साध सकता है। अपने ही घर की वस्तु को (अरे, स्वयं को) स्वयं क्यों नहीं साध सकेगा ? अंतरंग रुचिपूर्वक स्वोन्मुख हो, वह अवश्य ही साध सकता है। आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान करके उसमें स्थिर होना, यह एक ही उसे साधने की रीति है; अन्य कोई साधन या कोई रीति नहीं है।

आत्मा को जानकर उसका निर्णय करना चाहिये; आत्मा के स्वरूप का निर्णय न करे और उसमें शंका बनी रहे तो आत्म साधना का पुरुषार्थ ही प्रगट नहीं होगा और उसमें निःशंकता पूर्वक स्थिर नहीं हो पायेगा। जो जीव आत्मस्वरूप को भलीभाँति जानता है कि—'यह जो चैतन्यरूप से अनुभव में आता है, वही मैं हूँ'—ऐसा जानकर फिर यथार्थतया निर्णय (श्रद्धा) करे, वह जीव निःशंकरूप से उसमें स्थिर होकर आत्मा को साधता है। यही आत्मा को साधने की रीति है, अन्य किसी रीति से आत्मा नहीं साधता।

जिसप्रकार राजा की शरण ले और दरिद्रता दूर न हो, ऐसा नहीं हो सकता; उसीप्रकार चिदानंद राजा को पहिचानकर जिसने उसकी शरण ली, वह जीव संसारसमुद्र को अवश्य पार कर लेता है; उसके दुःख-दारिद्र दूर हो जाते हैं और वह परम चैतन्य सुख को प्राप्त करता है। इसलिये आत्मार्थी जीवों को सर्व प्रयत्न से इस चैतन्य राजा को पहिचानकर उसी की सेवा-आराधना करना योग्य है।

अंतर में स्वाद के भेद से भेदज्ञान करना है। 'यह जो चैतन्यस्वाद आता है, वह मेरे आत्मा का है, और जो आकुलतारूपी स्वाद था, वह मेरे आत्मा का नहीं किंतु राग का स्वाद था; जितना

चैतन्यस्वाद आये, उतना ही मैं हूँ'—इसप्रकार अंतरवेदन द्वारा राग और आत्मा को भिन्न जानना चाहिये। **जहाँ इसप्रकार भेदज्ञान किया, वहीं जीव को ऐसा श्रद्धान भी होता है कि—यह जो चैतन्यरूप से अनुभव में आया सो मैं हूँ.... यह चैतन्यस्वरूप ही मुझे सेवन करने योग्य है... वही मेरे स्थिर होने का स्थान है।—इसप्रकार जानना-श्रद्धा करना और स्थिर होना ही मोक्ष का उपाय है।**

परिणति की झंकार

जिसे भेदज्ञान हुआ है, ऐसा धर्मात्मा अपने आत्मा का कैसा अनुभव करता है—उसका यह वर्णन है। अंतर्मुख होकर वह अनाकुलरूप से 'एक ज्ञान ही मैं हूँ'—ऐसा स्वयमेव अपना अनुभव करता है। अनेक पदार्थों के बीच रहने पर भी निश्चय से मैं एक हूँ;—ऐसा निर्णय कर लेने के कारण परद्रव्यों की ओर से अपनी परिणति को समेटकर एक स्वद्रव्य की सन्मुखता से स्वभाव का स्वाद लेता है। समस्त परद्रव्यों से भिन्न ऐसे स्वद्रव्य के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के कारण वह धर्मात्मा समस्त परद्रव्यों के प्रति निर्भय है... कोई भी परद्रव्य उसे अंशमात्र अपनेरूप भासित नहीं होता; एक ज्ञायकस्वभाव का ही सदा अपनेरूप से अनुभव करता है। ऐसा अनुभव करनेवाला धर्मात्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव में ही वर्तता हुआ अपने ज्ञायक-उद्यान में केलि करता है। ज्ञायक-उद्यान में निजानन्द की केलि करते-करते उस धर्मात्मा की परिणति से ऐसी झंकार उठती है कि:—

'छुं एक शुद्ध ममत्वहीन हूँ ज्ञानदर्शनपूर्ण छुं;
अेमां रही स्थित लीन अेमां शीघ्र आ सौ क्षय करूँ।'

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[अंक १८८ से आगे]

(वीर सं० २४८२, अषाढ़ शुक्ला १, 'समाधिशतक' गाथा-४३)

स्वरूप से च्युत होकर पर में आत्मबुद्धि से बहिरात्मा अवश्य बँधता है और स्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाले अंतरात्मा मुक्त होते हैं—ऐसा अब कहते हैं:—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

समस्त परद्रव्यों से भिन्न मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ—ऐसा निर्णय करके जो ज्ञायक-स्वरूपोन्मुख नहीं होता, और शरीर-रागादि में ही आत्मबुद्धि करके वर्तता है, वह जीव स्वरूप से भ्रष्ट हुआ बँधता है—इसमें संशय नहीं है; और बुध-धर्मात्मा अपने ज्ञानानंदस्वरूप में ही आत्मबुद्धि से वर्तता है तथा पर से च्युत होकर स्वरूप में स्थिर होता है; इसलिये वह नियम से मुक्त होता है।

देखो, स्वतत्त्व और परतत्त्व—ऐसे दो भाग करके संक्षेप में समझाया। जो स्व-द्रव्योन्मुख हुआ, वह मुक्त होता है और जिसने परद्रव्य को उपादेय माना, वह बँधता है। परद्रव्याश्रित बँधन और स्वद्रव्याश्रित मुक्ति—यह संक्षिप्त सिद्धांत है।

सात तत्त्वों में जीव, वह स्वतत्त्व; अजीव, वह परतत्त्व। आस्रव और बंध, अजीव के आश्रय से होने के कारण अजीव के साथ अभेद हुए; और संवर-निर्जरा-मोक्षरूप पर्यायें शुद्ध जीव स्वभाव के आश्रय से होने के कारण जीव के साथ अभेद हुई।—इसप्रकार शुद्धपर्यायसहित जीवतत्त्व, वह स्वद्रव्य है और वही उपादेय है। अशुद्धता और अजीव, वे सब परद्रव्य हैं और वे

हेय हैं। इसप्रकार दो भाग करके स्पष्ट समझाया है। उसमें उपादेयरूप स्वतत्त्व में जो आत्मबुद्धि करता है, वह तो अजीव से—आस्रव से तथा बंधन से च्युत होकर मुक्ति प्राप्त करता है; और हेयरूप परतत्त्व में (देहादि-रागादि में) जो आत्मबुद्धि करता है, वह निजस्वरूप से च्युत होकर संसार में भटकता है।

बहिरात्मा की दृष्टि ही बाह्य में है; बाह्य पदार्थ उपेक्षा योग्य (हेय) होने पर भी उनमें वह उपादेयबुद्धि करता है; किंतु अंतर के ज्ञानानंदस्वरूप को उपादेय नहीं करता—उस ओर ढलता नहीं है। इसप्रकार हितकारी स्वतत्त्व को हेय तथा परद्रव्यों को उपादेय करता है; इसलिये वह जीव, राग-द्वेष-मोह से बँधता ही है, असमाधिरूप से ही वर्तता है तथा अहित को ही प्राप्त होता है। ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी को उपादेय नहीं मानता; एक शुद्ध स्वतत्त्व को ही उपादेय मानकर, उसकी उपासना करता है—उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र करता है और इसलिये वह कर्मबंधन से छूटकर मुक्ति प्राप्त करता है।

समता रमता ऊर्ध्वता ज्ञायकता सुखभास,
वेदकता चैतन्यता ये सब जीव विलास।

—और—

तनता मनता वचनता जड़ता जड़ संमेल,
गुरुता लघुता गमनता ये अजीव के खेल।

ज्ञानी जानता है कि यह तन-मन-वचन आदि तो जड़ अजीव के खेल हैं, वे कोई मेरे कार्य नहीं हैं, उनके साथ मेरा संबंध नहीं है। मैं तो तन-मन-वचन रहित, ज्ञान-दर्शन-सुख का पिण्ड हूँ; मेरा विलास तो चैतन्यरूप है। चैतन्यविलास ही मेरा स्वतत्त्व है और शरीरादिक जड़ का विलास, वह परतत्त्व है। इसप्रकार स्व-परतत्त्वों को भिन्न-भिन्न जानकर, ज्ञानी अपने स्वतत्त्व को ही उपादेय करके, उसमें एकाग्र होता है और परतत्त्वों को हेय जानकर उनकी अपेक्षा करता है।—ऐसे ज्ञानी तो स्वतत्त्व के आश्रय से मुक्ति प्राप्त करता है और मूढ़ बहिरात्मा तो शरीरादि परद्रव्यों को ही उपादेय मानकर अपने स्वरूप से च्युत होकर बँधता है।

निजस्वरूप में एकत्व से जीव, मुक्ति प्राप्त करता है; और परपदार्थों में एकत्व से जीव, बँधता है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

स्वतत्त्व क्या, परतत्त्व क्या—ऐसे स्व-पर के भेदविज्ञान बिना जीव की मति पर में ही बनी रहती है, किंतु स्वहित को नहीं साधती। मति, अर्थात् बुद्धि कहाँ वर्तती है, उस पर बंध-मोक्ष का आधार है। जिसकी मति अंतर्मुख होकर शुद्ध आत्मा में वर्तती है, वह मोक्ष प्राप्त करता है, और जिसकी मति बहिर्मुख पर में ही वर्तती है, वह बँधता है।

जीव, अजीवादि तत्त्वों को जानने का तात्पर्य भी यही है कि—स्वद्रव्य में सन्मुख होना और परद्रव्यों से पराङ्मुख होना; हितकारी तत्त्वों को उपादेय मानना और अहितकारी तत्त्वों को हेय जानकर छोड़ना। हितकारी तत्त्व, संवर-निर्जरा-मोक्ष हैं, वे शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से होते हैं; इसलिये सात तत्त्वों को जानकर शुद्धात्मा का तो आश्रय करना चाहिये और आस्रव-बंध अहितकारी तत्त्व हैं, वे पर के आश्रय से होते हैं; इसलिये सात तत्त्वों को जानकर उस अजीव का आश्रय छोड़ना चाहिये। इसप्रकार सात तत्त्वों को जानकर, उनमें हेय-उपादेयरूप प्रवृत्ति से जीव के हितरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है॥४३॥

अज्ञानी की बाह्य दृष्टि होने से, बाह्य में दिखाई देनेवाले इन तीन लिंगरूप शरीरों को ही वह आत्मारूप से जानता है; और ज्ञानी तो अंतर्दृष्टि के द्वारा उन स्त्री-पुरुष के शरीरों से भिन्न आत्मा को जानता है—ऐसा अब कहते हैं:—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥४४॥

मूढ़ अज्ञानी बहिरात्मा, बाह्य में दृश्यमान ऐसे स्त्री-पुरुष आदि शरीरों को ही देखता है, इसलिये उन्हीं को आत्मा मानता है, आत्मा ही तीन लिंग के तीन भेदरूप है—ऐसा वह मानता है; किंतु ज्ञानी तो शरीर से भिन्न अनादि-स्वयंसिद्ध आत्मा को ज्ञानघन एकरूप जानता है।

जो जीव राग को ही आत्मा मानता है, राग से लाभ मानता है, वह जीव सचमुच शरीर को ही आत्मा मानता है, क्योंकि शरीर वह राग का फल है। ज्ञानी जानता है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ, जिससे इस शरीर की प्राप्ति हुई, वह भाव भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो ज्ञायकशरीरी अशरीरी हूँ। अतीन्द्रिय ज्ञान ही मैं हूँ। अज्ञानी दृश्यमान शरीर को ही देखता है; चैतन्य तो उसे अदृश्य ही ज्ञात होता है। ज्ञानी जानता है कि दृश्यमान ऐसे शरीरादि मैं नहीं हूँ, किंतु उनका जो दृष्टा है, वही मैं हूँ।

मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ; मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। इन्द्रिय के कोई चिह्न मैं नहीं हूँ और न मैं उन चिह्नों द्वारा पहिचान में आता हूँ; मैं तो शरीर के चिह्नों से पार अलिंग हूँ, मेरा आत्मा, इन्द्रियादि लिंगों से अग्राह्य है; इसलिये अलिंगग्राह्य है।

❀ ❀ ❀

[अषाढ़ शुक्ला दूज, मंगलवार]

इस शरीर की आकृतियों के कारण जीव को विकार होता है—ऐसा जो मानता है, वह जीव अपने को स्त्री-पुरुषादि शरीररूप ही मानता है। इन्द्रियादि के अवलम्बन द्वारा ज्ञान होता है—ऐसा जो मानता है, वह भी वास्तव में इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को नहीं मानता, किंतु इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। पाँच इन्द्रियाँ अथवा उनके किन्हीं भी विषयों में जो सुख मानता है, वह इन्द्रियों तथा शरीर को ही आत्मा मानता है। अतीन्द्रिय आत्मा जब तक लक्ष में-प्रतीति में और अनुभव में न आये, तब तक किसी न किसी प्रकार शरीर में आत्मबुद्धि का वेदन होता ही है। अंतरात्मपना हो तो बहिरात्मपना दूर हो, अर्थात् अंतर्मुख होकर देहादि से पार आत्मा को पहिचाने तो उसी में ममत्वबुद्धि हो और शरीरादि में ममत्वबुद्धि दूर हो... फिर चाहे जितने सुंदर शरीर में भी उसे स्वप्न में भी सुख की कल्पना नहीं होगी।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है; शरीर से भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप उसकी प्रतीति में आ गया है; इसलिये वह अपने को चैतन्यस्वरूप से ही अनुभव करता है; स्त्री अथवा पशु आदि के शरीररूप अपने को नहीं मानता।

देखो, यह भेदज्ञानी की बुद्धि! वह ऊपरी धारणा की बात नहीं, किंतु अंतर्वेदन की बात है। शरीर और राग दोनों से पार होकर उसकी दृष्टि ने अंतर में अतीन्द्रिय आनन्दवान चैतन्यतत्त्व को देख लिया है; वह दृष्टि अब सारे जगत को अपने से बाह्यरूप ही देखती है.... और बाह्यवस्तु में सुख कैसे हो सकता है? इसलिये कहा है कि:—

सकल जगत ते अेठवत् अथवा स्वप्न समान
ते कहीये ज्ञानी दशा बाकी वाचा-ज्ञान।

इस संसार में जीव को शरीर, स्त्री आदि के संयोग तो अनंत बार आये और गये; इसप्रकार अनंत बार भोगे जाने से वे पदार्थ चैतन्य के लिये जूठन के समान हैं; जूठन को कौन फिर से मुँह में डालेगा? उसमें कौन सुख मानेगा? इसप्रकार ज्ञानी को चैतन्य से बाह्य सारे जगत् में कहीं भी सुख

की कल्पना नहीं है; इसलिये उसे तो वह जूठन के समान ही है। फिर जगत् के पदार्थ तो जगत् में ही हैं, किंतु स्वयं जहाँ अंतर्मुख होकर अपने आत्मा की ओर उन्मुख हुआ वहाँ उस स्वतत्त्व में जगत भासित नहीं होता; इसलिये उसे स्वप्न-समान कहा है।

अहा! ऐसे चैतन्यतत्त्व के अनुभव की धुन में जगत की अनुकूलता-प्रतिकूलता कहाँ देखें? चैतन्य की धुन के सामने जगत की अनुकूलता-प्रतिकूलता देखने में ज्ञानी नहीं रुकते; इसलिये चाहे जैसी स्थिति में भी उन्हें चैतन्य की समाधि वर्तती ही रहती है। सम्यग्दर्शन में ही महान समाधि की शक्ति है। सम्यग्दर्शन किसी भी समय-किसी भी स्थिति में स्ववस्तु को नहीं भूलता; स्वविषय में उसे भ्रांति ही नहीं होती; इसलिये उसे शांति और समाधि होती है। इसके अतिरिक्त जिन्हें शरीरादि की क्रिया में कर्तृत्व वर्तता है—ऐसे अज्ञानी जीवों को कदापि समाधि या शांति नहीं होती।

भ्रांति हो वहाँ शांति नहीं,
शांति हो वहाँ भ्रांति नहीं।

ज्ञानी की पहिचान का चिह्न

जिसके अंतर में भेदाान की जिज्ञासा जागृत हुई है, और जो भेदज्ञान का अभ्यास कर रहा है—ऐसा शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा ज्ञानस्वरूप हो गया है—यह कैसे जाना जाता है? भेदज्ञानी आत्मा की पहिचान कैसे होती है? ज्ञानी की पहिचान क्या? आत्मा अनादिकाल से विकार की रुचि रूप परिणमित होता हुआ अज्ञानी था; उस अज्ञान को टालकर आत्मा ज्ञानी हो गया है—उसे पहिचानने का चिह्न क्या?—सो बतलाइये।

देखो, यह ज्ञानी को पहिचानने की उत्कंठा! ऐसी उत्कंठा वाले शिष्य को आचार्यदेव ज्ञानी की पहिचान का चिह्न बतलाते हैं:—

परिणाम कर्मतणुं अने नोकर्मनुं परिणाम जे,
ते नव करे जे, मात्र जाणे ते ज आत्मा ज्ञानी छे॥७५॥

देखो, यह ज्ञानी की पहिचान का चिह्न! ऐसे चिह्न से जो ज्ञानी को पहिचान ले, उसे भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता; इसलिये वह स्वयं भी ज्ञानी हो जाता है।

जो आत्मा ज्ञानी हुआ, वह अपने को एक ज्ञायकस्वभावी ही जानता हुआ ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है और शुभाशुभ विकार और कर्म, नोकर्म के कर्तारूप से परिणमित नहीं होता।—यह ज्ञानी का चिह्न है।

यहाँ ज्ञान परिणाम को ही ज्ञानी का चिह्न कहा है; ज्ञानी का चिह्न तो ज्ञान में होता है, कहीं शरीर में या राग में ज्ञानी का चिह्न नहीं होता। शरीर की अमुक चेष्टा द्वारा अथवा राग द्वारा ज्ञानी नहीं पहिचाने जाते, ज्ञानी तो उससे भिन्न हैं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—हे शिष्य! जो जीव ज्ञान को और राग को एकमेक नहीं करता किंतु भिन्न ही जानता है; भिन्न जानता हुआ रागादिक का कर्ता नहीं होता किंतु ज्ञाता ही रहता है और ज्ञानपरिणाम का ही कर्ता होकर परिणमित होता है, उसे तू ज्ञानी जान।

व्याप्य-व्यापकपने के सिद्धांत से यहाँ ज्ञानी की पहिचान करायी है। ज्ञान परिणाम के साथ जिसे व्याप्य-व्यापकपना है, वह ज्ञानी है; जिसे विकार के साथ व्याप्य-व्यापकपना है, वह अज्ञानी है। व्याप्य-व्यापकपना एक स्वरूप में ही होता है, भिन्न स्वरूप में नहीं होता, इसलिये जिसके साथ एकता हो, उसे उसी के साथ व्याप्य-व्यापकपना होता है, और उसी के साथ कर्ताकर्मपना होता है। ज्ञानी ज्ञान के साथ ही एकता करके उसी में व्याप्त होता हुआ उसका कर्ता होता है, इसलिये ज्ञानरूप कार्य से ज्ञानी की पहिचान होती है। ऐसा ज्ञानी विकार के साथ एकता नहीं करता, उसमें वह व्याप्त नहीं होता तथा उसका कर्ता नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानी की विकार के साथ एकता नहीं है। जो जीव ज्ञानी का ऐसा लक्षण जानता है, उसे भेदज्ञान होता है, उसके विकार का कर्तृत्व उड़ जाता है और ज्ञान में ही एकतारूप से परिणमित होता हुआ वह ज्ञानी होता है। भेदज्ञान के बिना ज्ञानी की सच्ची पहिचान नहीं होती।

जिसप्रकार घड़े में और मिट्टी में एकता है, किंतु घड़े में और कुम्हार में एकता नहीं है; उसीप्रकार ज्ञानपरिणाम में और आत्मा में एकता है किंतु ज्ञानपरिणाम और राग में या कर्म में एकता नहीं है; इसलिये ज्ञानपरिणाम द्वारा ही ज्ञानी का आत्मा पहिचाना जाता है। नित्य ज्ञायकस्वरूप में दृष्टि लगाने से ज्ञानपरिणाम को राग से भिनन जानने पर अपने में भी ज्ञान और राग की भिन्नता का वेदन होकर, ज्ञानपरिणाम के साथ अभेद ऐसे अपने आत्मा की प्रतीति होती है। **ज्ञानी को पहिचानने**

का प्रयोजन तो अपने आत्मा की पहिचान करना ही है। जिन्होंने भेदज्ञान कर लिया है, ऐसे जीवों की पहिचान द्वारा यह जीव अपने में भी वैसा भेदज्ञान करना चाहता है। भेदज्ञान होने पर यह जीव सकल विकार के कर्तृत्वरहित होकर ज्ञायकरूप से शोभायमान होता है। विकार के कर्तृत्व में तो जीव की शोभा का घात होता है और भेदज्ञान द्वारा वह कर्तृत्व छूटने पर आनन्दमय ज्ञानपरिणाम से वह जीव सुशोभित हो उठता है। ऐसे ज्ञानपरिणाम ही ज्ञानी को पहिचानने का चिह्न है।

देखो, यह ज्ञानी को पहिचानने की रीति! अहा! आचार्यदेव ने ज्ञानी को पहिचानने की अद्भुत रीति बतलाई है। इस रीति से जो ज्ञानी को पहिचाने, वह स्वयं ज्ञानी हुए बिना नहीं रहेगा—ऐसी यह पहिचान है। यह पहिचान ही धर्म की खान है। इसप्रकार जिसने ज्ञानी को पहिचाना, उसी ने ज्ञानी की सच्ची निकटता-सच्चा सत्संग किया है; ज्ञानी जैसा ही भाव उसने अपने में प्रगट किया है; इसलिये भाव की अपेक्षा से ज्ञानी के साथ उसकी एकता हुई, क्षेत्र की अपेक्षा भले ही ज्ञानी के निकट रहे, किंतु यदि ज्ञानपरिणाम से ज्ञानी को न पहिचाने, तथा अपने में ज्ञानपरिणाम प्रगट न करे, तो वह वास्तव में ज्ञानी के निकट नहीं रहता, ज्ञानी के भाव से वह अत्यन्त दूर है।

जीव जब भेदज्ञान करता है, तब वह आस्रवों से विमुख होता है अर्थात् बंधभाव से छूटकर मोक्षमार्ग की ओर ढलता जाता है। दु:खमय ऐसे आस्रव और सुखरूप ऐसे ज्ञानस्वभाव—यह दोनों भिन्न हैं। ऐसा भेदज्ञान करनेवाला जीव उसी क्षण ज्ञानस्वभाव के साथ एकता करके आस्रवों से छूट जाता है।—ऐसे ज्ञानपरिणाम का नाम भेदज्ञान है, उसी के द्वारा ज्ञानी की पहिचान होती है।

वे ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं कि मैं पर से भिन्न एक हूँ, विकाररहित शुद्ध हूँ और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। ज्ञान से भिन्न जो भी भाव हैं, वे मैं नहीं हूँ।—इसप्रकार वह भेदज्ञानी धर्मात्मा असार और अशरण ऐसे संसार से विमुख होकर परम सारभूत एवं शरणरूप अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होता है; इसलिये स्वभावोन्मुख ज्ञानपरिणाम का ही वह कर्ता होता है; ज्ञान परिणाम के अतिरिक्त अन्य किसी भाव का कर्ता नहीं होता; उन्हें तो अपने से भिन्न जानकर उनका ज्ञाता ही रहता है।

आचार्यदेव प्रमोदपूर्वक कहते हैं कि—यहाँ से अर्थात् जब से भेदज्ञान हुआ, तब से जगत का साक्षी पुरण-पुरुष प्रकाशमान हुआ। भेदज्ञान होते ही चैतन्यभगवान आत्मा अपने ज्ञानपरिणाम से जगमगा उठा... आनन्द से सुशोभित होने लगा।

इतना सुनते ही जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठा कि प्रभो! ऐसे ज्ञानी को किसप्रकार पहिचाना

जाये ? चैतन्यभगवान जगमगा उठा, उसे कैसे जानें ? वास्तव में तो शिष्य स्वयं ही ऐसा भेदज्ञान प्रकट करने को तत्पर हुआ है, इसलिये इतनी उत्कंठा से प्रश्न करता है।

तब आचार्यदेव उससे कहते हैं कि—ज्ञानी अपने ज्ञानमय परिणाम को ही करते हैं; ज्ञानमय परिणाम का ही कर्तृत्व और रागादि का अकर्तृत्व, वह ज्ञानी को पहिचानने का चिह्न है। जिसप्रकार बड़े राजा-महाराजाओं के ध्वज पर जो चिह्न होता है, उसे देखकर उन्हें पहिचाना जाता है; उसप्रकार ज्ञानी-धर्मात्मा तो राजाओं के भी राजा हैं, उन्हें पहिचानने का कोई चिह्न है ? तो कहते हैं कि—हाँ; रागादि के अकर्तृत्वरूप जो ज्ञानपरिणाम, वही ज्ञानी के धर्मध्वज का चिह्न है, उसी चिह्न द्वारा ज्ञानीराजा को पहिचाना जाता है। और इसप्रकार ज्ञानपरिणाम द्वारा ज्ञानी को पहिचाननेवाला जीव स्वयं भी उस काल ज्ञानस्वरूप होकर कर्तृत्वरहित हुआ शोभायमान होता है।

—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का चिह्न बतलाया। वाह! बड़ी अद्भुत बात कही है, जो जागृत होकर समझे, उसकी समझ में आ सकता है। *(समयसार गाथा ७५ के प्रवचनों से)*

मोक्षार्थी जीव को
मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं

जो जीव मोक्षार्थी है, जो बंधन से छूटना चाहता है, उसे आचार्यदेव बंध और मोक्ष के कारण समझाकर कहते हैं कि हे जीव! स्वद्रव्य के आश्रय से मुक्ति और परद्रव्य के आश्रय से बंधन है—ऐसा जानकर तू परद्रव्य का आश्रय छोड़ और स्वद्रव्य का आश्रय ले। उसके लिये स्व-पर का भेदज्ञान कर... उपयोग का तथा राग का भी भेदज्ञान कर! तेरा उपयोगस्वरूप आत्मा राग से और परद्रव्यों से भिन्न है—ऐसा भलीभाँति जानकर उपयोग के साथ एकता कर। ऐसा करने से तेरे बंधन छूट जायेंगे और तू मुक्त हो जायेगा।

(बंध अधिकार पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों से)

—कार्तिक कृष्णा ३-४, संवत् २०१६—

समयसार में शुद्धात्मा बतलाने की प्रधानता है; बंधन की प्रधानता नहीं है।

वास्तव में आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है; वह ज्ञायकस्वभाव स्वयं बंधरूप नहीं है, किंतु

अबंधस्वभावी है। प्रारम्भ में ऐसे अबंधस्वभावी-चित्स्वभावी शुद्ध आत्मा को 'नमः समयसाराय' कहकर नमस्कार किया। वह शुद्ध आत्मा स्वानुभूति से प्रकाशमान है;—किसी राग से या विकल्प से वह प्रकाशमान नहीं होता। ऐसा शुद्ध आत्मा एकत्व-विभक्त है, उसका इस समयसार में कथन है। इसलिये इस बंध अधिकार में भी बंधन की प्रधानता कही है किंतु बंधनरहित अबंधस्वरूपी शुद्ध आत्मा बतलाने की ही प्रधानता है।

बंधन का स्वामी मिथ्यादृष्टि है.... सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मा का ही स्वामी है।

बंध का अधिकार किसे है? बंधन की प्रधानता किसे है? और बंधन का स्वामी कौन है?—तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि ही बंधन का स्वामी है अर्थात् मिथ्यादृष्टि को ही बंधन होता है। सम्यग्दृष्टि तो शुद्ध आत्मा का ही स्वामी है, शुद्ध आत्मा के स्वामित्व में उसे बंध के साथ एकता नहीं होती अर्थात् उसे सचमुच बंधन नहीं होता। आत्मा के अबंधस्वभाव को नहीं देखनेवाला अज्ञानी ही बंध का कर्ता होता है। आत्मा के अबंधस्वभाव को देखनेवाला धर्मात्मा, बंध को अपने से भिन्न जानता हुआ बंध का कर्ता नहीं होता, वह अबंधभावरूप निर्मलभाव को ही करता है।

मोक्ष का मूल भेदज्ञान; बंध का मूल मिथ्यात्व

अबंध चैतन्यस्वभाव में जिसकी एकता नहीं है और बंधभाव में एकता है, उसी को बंधन और संसार भ्रमण होता है; इसलिये राग के साथ उपयोग की एकतारूप जो मिथ्यात्व है, वही संसार का मूल है। प्रगट है कि मिथ्यात्व ही आस्रव और बंध है; और उपयोग तथा राग की भिन्नतारूप जो भेदज्ञान, वह मोक्ष का मूल है; भेदज्ञान होने पर जीव, राग में एकतारूप परिणमित नहीं होता, किसी भी राग से करने योग्य नहीं मानता; इसलिये उसे बंधन या संसार-भ्रमण नहीं होता। इसप्रकार मोक्ष का मूल भेदज्ञान है और बंध का मूल मिथ्यात्व है।

हे जीव! तू बंध-मोक्ष के कारण को जान!—स्वद्रव्याश्रित मोक्ष; परद्रव्याश्रित बंध।

भाई! तुझे मोक्ष प्राप्त करना है? बंधन से अपने आत्मा को छुड़ाना है?—तो मोक्ष का कारण क्या और बंध का कारण क्या?—उन दोनों को जानकर मोक्ष के कारण का आदर कर और बंध के कारण को छोड़!

शुद्ध चैतन्यमय अबंधस्वभावी ऐसा जो तेरा स्वद्रव्य, उसका आश्रय ही मोक्ष का कारण है और परद्रव्य का आश्रय, बंध का कारण है।

हे मोक्षार्थी जीवों! तुम स्वद्रव्य का आश्रय करो।

परद्रव्य कहीं बंध का कारण नहीं है, किंतु परद्रव्य की ओर झुकते हुए परिणाम ही बंध का कारण है। परद्रव्य तो निमित्त है, वह निमित्त स्वयं कहीं बंध का कारण नहीं है, परंतु उस निमित्त का आश्रय करनेवाला जीव स्वयं अपने विभाव परिणाम के कारण ही बंधता है। और चिदानन्द स्वरूप स्वद्रव्य के आश्रय से होनेवाले निर्मल परिणाम मोक्ष के कारणरूप हैं। इसप्रकार, स्वद्रव्य एवं परद्रव्य के आश्रय को मोक्ष और बंध का कारण जानकर, हे मोक्षार्थी जीवो! तुम मोक्ष के लिये स्वद्रव्य का ही आश्रय करो और परद्रव्य का आश्रय छोड़ो। परद्रव्य के आश्रय से होनेवाला जो व्यवहार, उसे पूर्णत: छोड़कर स्वद्रव्य के आश्रय से निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करो... वही मोक्ष का कारण है।

परम्परा कारण का अर्थ सच्चा कारण नहीं है।

बंधन के कारण का निमित्त हो-इतनी ही परद्रव्य के कार्य की मर्यादा है, परंतु बंधन का भी कारण हो—ऐसी उसकी मर्यादा नहीं है। अब, बंध के कारण का निमित्त होने से परद्रव्य को परम्परा बंध का कारण कहा जाये, तब भी वह स्वयं कहीं बंध का कारण नहीं होता; उसीप्रकार परद्रव्याश्रित ऐसे व्यवहाररत्नत्रय को कदाचित् परम्परा मोक्ष का कारण कहा जाये तो वहाँ भी ऐसा समझना चाहिये कि वह व्यवहार स्वयं कहीं मोक्ष का कारण नहीं है; मोक्ष का कारण तो स्वद्रव्य के आश्रय से होनेवाला निश्चयरत्नत्रय ही है। व्यवहार की ऐसी मर्यादा नहीं है कि वह मोक्ष का कारण हो सके। मोक्षमार्ग के साथ सहकारीरूप से निमित्त हो, इतने में ही व्यवहार का कार्य क्षेत्र पूरा हो जाता है। इस मर्यादा से आगे बढ़े तो वह जीव निश्चय-व्यवहार की मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। इसीप्रकार परद्रव्य को बंध का कारण माने, वह भी स्व-पर की मर्यादा को लाँघनेवाला मिथ्यादृष्टि ही है।

जिनोपदेश पराश्रय छुड़ाकर स्वाश्रय करता है।

स्वद्रव्य के आश्रय से बंधन नहीं होता, बंधन तो परद्रव्य के ही आश्रय से होता है; इसलिये परद्रव्य का आश्रय छुड़ाकर स्वद्रव्य का आश्रय कराने के हेतु शास्त्रों में ऐसा भी उपदेश देते हैं कि तू परद्रव्य को छोड़! वहाँ परद्रव्य को छोड़ने का तात्पर्य परद्रव्य का आश्रय छोड़ना ही है। जिनोपदेश का तात्पर्य पराश्रय छुड़ाकर स्वाश्रय कराना है, क्योंकि ऐसा करने से ही जीव को सुख होता है।

मोक्षार्थी को निश्चय का ही आश्रय क्यों करना चाहिये ?

स्वाश्रय से मोक्ष, पराश्रय से बंधन

(समयसार-बंध अधिकार के प्रवचनों से)

प्रश्न—बंध का कारण क्या है ?

उत्तर—बंध का कारण अज्ञानमय अध्यवसाय है; इसलिये वह छोड़नेयोग्य है।

प्रश्न—अध्यवसाय का अर्थ क्या ?

उत्तर—मैं परजीवों को मारूँ-बचाऊँ या सुखी-दुःखी करूँ—ऐसी कर्तृत्वबुद्धिरूप जो पर के साथ एकता; अथवा ज्ञान में ज्ञात होनेवाले धर्मादिक ज्ञेय पदार्थों के साथ एकता; अथवा 'मैं मनुष्य ही हूँ'—ऐसी उन मनुष्यादि पर्यायों में एकता;—ऐसी एकताबुद्धि का अभिप्राय, वह अज्ञानी का अध्यवसाय है और वही बंध का कारण होने से मोक्षार्थी को वह छोड़ने योग्य है।

प्रश्न—आचार्यदेव ने अध्यवसाय छोड़ने को कहा है, परंतु व्यवहार तो छोड़ने योग्य नहीं है न ?

उत्तर—व्यवहार भी सम्पूर्ण छोड़ने योग्य है। आचार्यदेव कलश १७३ में स्पष्ट कहते हैं कि—''सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसाय होते हैं, वे समस्त अध्यवसान जिनभगवंतों ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं; इसलिये हम ऐसा मानते हैं कि—'पर जिसका आश्रय है, ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।''

प्रश्न—व्यवहार को भी किसलिये छुड़ाया है ?

उत्तर—क्योंकि अध्यवसाय की भाँति व्यवहार को भी पराश्रितपना ही है, और वह पराश्रित व्यवहार, बंध का ही कारण है; इसलिये मोक्षार्थी मुमुक्षु को वह व्यवहार वास्तव में छोड़ने योग्य है।

प्रश्न—समस्त व्यवहार छोड़ने योग्य है—ऐसा जानकर मुमुक्षु को क्या करना चाहिये ?

उत्तर—पराश्रित ऐसा समस्त व्यवहार जिनभगवंतों ने छुड़ाया है; तो फिर सत्पुरुषों एक सम्यक् निश्चय को ही निष्कंपरूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निजमहिमा में स्थिरता क्यों धारण नहीं करते! मोक्षार्थी को निश्चयनय द्वारा अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप के आश्रय द्वारा समस्त व्यवहार छोड़ने योग्य है, अर्थात् समस्त पराश्रय छोड़ने योग्य है।

प्रश्न—मुमुक्षु को निश्चयनय का ही आश्रय किसलिये करना चाहिये ?

उत्तर—क्योंकि आत्माश्रित ऐसे निश्चयनय का आश्रय करनेवाले ही मोक्ष प्राप्त करते हैं; इसलिये मोक्षार्थी को उसका आश्रय करने योग्य है।

प्रश्न—मुमुक्षु को व्यवहार का आश्रय किसलिये छोड़ना चाहिये ?

उत्तर—क्योंकि पराश्रित ऐसे व्यवहार का आश्रय बंध का ही कारण है, उसके आश्रय से कभी भी मुक्ति नहीं होती, इसलिये मोक्षार्थी को वह छोड़ने योग्य है।

प्रश्न—व्यवहार को छोड़कर, संत क्या करते हैं ?

उत्तर—संत-मोक्षार्थी-सत्पुरुष व्यवहार का अवलंबन छोड़कर, सम्यक् प्रकार से एक निश्चय को ही निष्कंपरूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानस्वरूप निज महिमा में स्थिर होते हैं।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय भी उपरोक्तानुसार ही है। श्रद्धा-ज्ञान में व्यवहार के आश्रय की बुद्धि छोड़कर परमार्थ-निश्चय चिदानन्दस्वभाव का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न—शास्त्रों का हृदय क्या ? ज्ञानी का हृदय क्या ? और मोक्षार्थी का कर्तव्य क्या ?

उत्तर—ज्ञानी का और सर्व शास्त्रों का हार्द यह है कि निश्चयरूप शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय करना चाहिये और व्यवहार का आश्रय छोड़ना चाहिये। मोक्षार्थी का कर्तव्य भी यही है।

प्रश्न—स्व-पर की एकत्वबुद्धि तथा व्यवहार—इन दोनों में समानता किसप्रकार है ?

उत्तर—पराश्रयता की अपेक्षा से उन दोनों में समानता है; इसलिये भगवान ने जिसप्रकार स्व-पर की एकत्वबुद्धिरूप पराश्रय छुड़ाया है, उसीप्रकार समस्त व्यवहार भी पराश्रित होने से छुड़ाया है। **एक पराश्रय छोड़ने को कहकर सर्व पराश्रय छोड़ने योग्य ही हैं—ऐसा आचार्यदेव ने स्पष्ट समझाया है। मिथ्यादृष्टि का पराश्रय हो या सम्यग्दृष्टि का हो—दोनों पराश्रय बंध के ही कारण हैं, इसलिये उस पराश्रयरूप समस्त व्यवहार को मोक्षमार्ग में से निषेध किया है। मोक्षमार्ग तो एक स्वाश्रयरूप ही है।**

प्रश्न—बंध-मोक्ष का संक्षिप्त सिद्धांत क्या है ?

उत्तर—'स्वाश्रय से मोक्ष-पराश्रय से बंधन'—यह बंध-मोक्ष का संक्षिप्त सिद्धांत है।

प्रश्न—कौन मुक्ति प्राप्त करता है ?

उत्तर—आत्मा के आश्रयरूप निश्चयनय का जो आश्रय लेते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—कौन मुक्ति प्राप्त नहीं करता ?

उत्तर—जो पराश्रित ऐसे व्यवहार का आश्रय लेते हैं, वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाते।

प्रश्न—किसे बंधन होता है ?

उत्तर—जो शुद्धनय का आश्रय छोड़ते हैं, उन्हीं को बंधन होता है।

प्रश्न—किसे बंधन नहीं होता ?

उत्तर—जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे कर्मों से नहीं बँधते।

इसलिये हे मोक्षार्थी जीवो!

ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मा को समस्त पर से तथा समस्त विभावों से भिन्न जानकर, निज शुद्धात्मा का आश्रय करो... और समस्त पर का आश्रय छोड़ो—ऐसा संतों का उपदेश है। शुद्ध आत्मस्वभाव का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर परमानन्दरूप मोक्षपद की प्राप्ति होगी।

प्रभो! आपके बतलाये हुए मोक्षमार्ग पर

हम चले आ रहे हैं—

'अर्हंत सौ कर्मोतणो करी नाश अे ज विधिवडे,
उपदेश पण अेम ज करी निर्वृत्त थया, नमुं तेमने।

आचार्यदेव ने स्वयं स्वानुभव से जो मोक्षमार्ग प्रगट किया, उसमें मति को व्यवस्थित करके नि:शंकतापूर्वक कहते हैं कि—अहो! अनंत तीर्थंकर भगवंतों ने स्वयं इसी एक मोक्षमार्ग का अनुभव करके मुमुक्षुओं को दर्शाया है।

परम कल्याणरूप नि:श्रेयस अर्थात् मोक्ष, उसकी प्राप्ति का त्रिकाल एक ही उपाय है कि—सर्वत: शुद्ध भगवान अरहंतदेव के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचानकर, उन्हीं जैसे अपने शुद्ध

आत्मा को जानने से सम्यग्दर्शन होता है और दर्शनमोह का क्षय हो जाता है। इसप्रकार दर्शनमोह के क्षय से सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके फिर उसमें एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग द्वारा राग-द्वेष का भी क्षय होता है। इसप्रकार शुद्धोपयोग द्वारा राग-द्वेष का सर्वथा नाश करके, सर्व कर्म के क्षय से भगवान तीर्थंकर मोक्ष को प्राप्त हुए; अन्य मुमुक्षु जीवों को भी भगवंतों ने उसी मार्ग का उपदेश दिया है। इसप्रकार तीनों काल मोक्षमार्ग की एक ही धारा प्रवाहित हो रही है।

तीर्थंकरों के बीच समयभेद भले ही हो, किंतु भाव में भेद नहीं है। एक तीर्थंकर किसी एक भाव से मोक्ष को प्राप्त हुए हों और दूसरे तीर्थंकर दूसरे भाव से—ऐसा भाव भेद नहीं है। समस्त तीर्थंकर एक ही भाव से (स्वाश्रित शुद्धोपयोग से ही) कर्म क्षय करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं और हमें भी भगवान ने उसी मार्ग का साक्षात् उपदेश दिया है; उस मार्ग में हमारी मति व्यवस्थित हुई है—ऐसा कहकर प्रमोदपूर्वक आचार्य भगवंत कहते हैं कि—अहो! उन भगवंतों को नमस्कार हो... भगवंतों का बतलाया हुआ मोक्षमार्ग हमने अवधारित किया है; मोक्ष की साधना का कार्य कर रहे हैं।—इसप्रकार मोक्ष की साधना करते हुए आचार्यदेव ने अरिहंतों और सिद्धों को अभेद नमस्कार किया है... और मुमुक्षु भव्य जीवों के लिये भगवान का मार्ग प्रकाशित किया है।

अहो जीवो! इस काल में या भविष्य काल में मोक्ष का यह एक ही पंथ है। यह स्वाश्रयरूप शुद्धात्मप्रवृत्ति ही एक मोक्ष का माग है—ऐसा तुम निःसंदेहरूप से निर्णय करो। मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग भगवान के कहे हुए किसी भी शास्त्र में यह एक ही मोक्षपंथ दर्शाया है। मोक्षमार्ग में हमारी मति व्यवस्थित हुई है, उसमें कोई संदेह नहीं रहा। निःसंदेहरूप से हम ऐसे मोक्षमार्ग में परिणमित हो रहे हैं... वाह प्रभु! आपने हमें मोक्ष का सीधा मार्ग बतलाया है... आपके बतलाये हुए मोक्षपंथ पर हम चले आ रहे हैं... अहो! आपको हमारा नमस्कार हो... नमस्कार हो!

सोनगढ़ समाचार

पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी सुख शांति से विराजते हैं, सबेरे प्रवचन में श्री अष्टपाहुड़ शास्त्र का भावपाहुड़ नामक पाँचवाँ अधिकार तथा दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र में से गा० १२ वीं पर प्रवचन होते हैं, समयसारजी ऊपर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन टेप रेकॉर्डिंग से रील भर लेते हैं।

श्रावण वदी १ भगवान महावीर प्रभु की दिव्यध्वनि का दिवस (वीर शासन जयंती) होने से बहुत हर्ष पूर्वक उत्सव मनाया गया था।

नया प्रकाशन

दशलक्षण धर्म (प्रवचन)

जिसमें उत्तम क्षमादि धर्मों के ऊपर आध्यात्मिक सुंदर शैली से विवेचन है। निश्चय-व्यवहार धर्म कब और कैसे होता है ? यथार्थ भाव भासनपूर्वक आत्मिक शांति स्वतंत्रता का स्वाद लेने के लिये इसे अवश्य पढ़िये। पृष्ठ ९५, मूल्य ०.५३

समयसार प्रवचन भाग १ (पृष्ठ ४८८, मूल्य ४.७५)

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जावेगा।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।